संवाद

एक 'स्थगित' ख्वाब का आख़िर होता क्या है?

अरविंद नारायण

11 दिसम्बर 2014 को न्यायाधीश सिंघवी ने *सुरेश कुमार कौशल बनाम नाज़ फांउडेशन* केस में अपना फ़ैसला सुनाते हुए धारा 377 की वैधता को बरकरार रखते हुए लाखों समलैंगिक नागरिकों के जीवन को प्रभावशाली तरीक़े से पुनर्अपराधी करार दे दिया। इसे विक्रम सेठ ने बड़े मुखर तरीके से 'प्यार और क़ानून के लिए बुरा दिन' के रूप में व्यक्त किया। यह फ़ैसला एक बुरे साल का जो 16 दिसम्बर 2012 को युवा लड़की के नृशंस बलात्कार से शुरू हुआ था का बुरा अंत क्यों था?

सुरेश कुमार कौशल केस का फ़ैसला तीन महत्वपूर्ण कारणों से क़ानून को पराजित करता है। पहला, यह इस बात को नज़रअंदाज़ करता है कि न्यायपूर्वक फ़ैसलों का आधार तर्कसंगत निर्णय होने चाहिए। दूसरा, यह भारतीय संविधान को रेखांकित करने वाले सिद्धांत का अनुसरण नहीं करता तथा तीसरा, इसमें किसी भी तरह के संवैधानिक मानवतावाद की कमी दिखाई देती है।

सबसे बुनियादी बात यह है कि अगर फ़ैसले किसी तर्क पर आधारित न हों तो उनका कोई मतलब नहीं रह जाता। जब कोई न्यायाधीश अपना फ़ैसला सुनाता है तो वह यह दर्शाता है कि सभी पक्षों को भली-भांति आंकने के बाद वह किस निष्कर्ष पर पहुंचा है जो उसके फ़ैसले का तार्किक आधार बनता है। न्यायपालिका की यही विचारात्मक शक्ति उसकी वैधता को सतत और पुख्ता बनाती है।

सुरेश कुमार कौशल के मामले में विचारात्मक प्रजातंत्र के इसी बुनियादी साधन के उपयोग में अदालत से चूक हो गई है। मामले के तीन मुख्य बिन्दुओं पर न्यायाधीशों ने कोई भी तर्कसंगत दलील पेश नहीं की हैं। सबसे पहला सवाल जो अदालत के समक्ष था वह था कि क्या धारा 377 समानता के अधिकार, गरिमा व गोपनीयता के अधिकार और भेदभाव युक्त होने के अधिकार का उल्लंघन करती है?

जहां तक समानता के अधिकार का प्रश्न है वहां अदालत ने परख के लिए दो कसौटियां निर्धारित की हैं। पहली, धारा 14 के तहत वैधता हासिल करने के लिए क़ानून दो समूहों या वर्गों के बीच भेद कर सकता है परन्तु यह वर्गीकरण सुस्पष्ट अंतर पर आधारित होना चाहिए। दूसरा, वर्गीकरण के पीछे कोई उचित लक्ष्य से संबंध होना चाहिए। इस मामले में अदालत इस निष्कर्ष पर पहुंची कि 'सामान्य नियमों के अनुरूप शारीरिक सहवास' और 'प्रकृति के नियमों के विरुद्ध शारीरिक सहवास' के बीच जायज़ फ़र्क़ किया जा सकता है। यह विवादपूर्ण है कि क्या इस वर्गीकरण में किसी 'स्पष्ट अंतर' का अभाव है क्योंकि न्यायाधीशों ने इस फ़ैसले में आगे यह भी कहा है कि 'इस खण्ड के तहत आने वाली क्रियाओं की सूची बनाना मुश्किल है।' पर अचरज तो इस बात पर है कि यह दलील दूसरी कसौटी पर भी खरी नहीं उतरती और इसका किसी खास लक्ष्य से कोई संबंध भी स्थापित नहीं किया गया है। इस सवाल को सम्बोधित करने में अदालत की असमर्थता पर तो सिर्फ़ यहीं अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि न्यायाधीश परख की दूसरी कसौटी को केवल इसलिए सम्बोधित नहीं करते क्योंकि ऐसा करने पर वे सार्वजनिक रूप से यह कहने के लिए बाध्य हो जाएंगे कि इस क़ानून को वैध क़रार देने के पीछे की प्रमुख वजह दरअसल 'नैतिक' है। न्यायाधीश शायद यह करना नहीं चाहते हैं।

जहां तक गोपनीयता के हक़ की बात है तो इस क़ानून के विकास के दौरान उच्च न्यायालय ने यह माना था कि धारा 21 के तहत घर की चारदीवारी के भीतर आज़ाद रहने

के साथ इस अधिकार में अपने निजी जीवन से संबंधित फ़ैसले करने का अधिकार भी शामिल है। इस लिहाज़ से धारा 377 घर के भीतर आज़ादी और अपने साथी से संबंधित निजी फ़ैसले लेने के हक़ का भी उल्लंघन करती है। सर्वोच्च न्यायालय ने इस विषय पर भी कोई बात नहीं की है कि क्या धारा 377 गोपनीयता के अधिकार का हनन करती है।

उच्च न्यायालय के फ़ैसले के पीछे गरिमा का सवाल प्रमुख था। जहां तक *नाज़ फाउंडेशन* का मामला था उनका मानना है कि धारा 377 इंसान के व्यक्तित्व के एक अंतरंग पहलू का अपराधीकरण करती है और इस लिहाज़ से यह 'एक सम्पूर्ण व्यक्ति होने के हक़' का हनन है। गोपनीयता और गरिमा के बीच का यह संबंध किस तरह जीवन के अधिकार का समग्र पहलू होता है (धारा 21 के तहत मिलने वाले) ही *नाज़ फाउण्डेशन* की अदालत में दलील का प्रमुख तर्क था। परन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने इस विषय पर भी अपनी कोई प्रतिक्रिया ज़ाहिर नहीं की।

धारा 377 के प्रभाव से समलैंगिकों के जीवन के अधिकार के हनन को दर्शाने वाले प्रताड़ना, बलात्कार और अन्याय के बयानों पर *सुरेश कुमार कौशल* ने नीरस भाव से कहा कि 'धारा 377 द्वारा समलैंगिक व्यक्तियों के उत्पीड़न, ब्लैकमेल और यातना को अनदेखा व माफ़ नहीं किया जा सकता परन्तु सिर्फ़ दुरुपयोग की सच्चाई इस धारा के अवगुण को प्रतिबिम्बित नहीं करती।'

नाज़ फाउंडेशन द्वारा की गई एक महत्वपूर्ण पहल थी भेदभाव का सामना करने वाले समूहों की सुरक्षा के लिए धारा 15 के अंतर्गत समलैंगिक सहवास को एक समान दर्जा दिलाने की कोशिश। यह एक बेहद अहम न्यायिक अगुवाई थी जो सभी अल्पसंख्यकों के हित में थी और जिसका हमारे संविधान में उल्लेख नहीं है। हमारे लिए तो यह एक पहेली ही है कि अदालत ने इस पर कोई स्पष्टीकरण क्यों नहीं दिया कि इस मामले में धारा 15 क्यों लागू नहीं की जा सकती और महज़ इतना भर कहा कि 'उच्च न्यायालय का यह एलान सही नहीं था कि धारा 377 संविधान की धारा 14/15 के अधिकारातीत थी।'

जहां तक तर्क का सवाल है *कौशल केस* के फ़ैसले से यह साफ़ नहीं होता कि धारा 377 की संवैधानिक वैधता का आधार क्या है? हालांकि *कौशल मामले* की तार्किक पराजय भारतीय संविधान की सही व्याख्या करने में हार भी मानी जा सकती है। इसमें समानता, गोपनीयता व गरिमा के सवालों से आगे जाते हुए *नाज़ फांउडेशन* द्वारा विकसित सवैधानिक नैतिकता का सिद्धांत भी बेहद महत्वपूर्ण है। इसी मानक से प्रेरित होकर न्यायमूर्ति शाह ने संविधान सभा की बहसों व डा. अम्बेडकर के संवैधानिकता नैतिकता के मानक की जांच करने के बाद यह उल्लेख किया कि सार्वजनिक नैतिकता के मानक को आधार बनाकर किसी अल्पसंख्यक समूह को उनके अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में कहें तो अगर भारत बहुसंख्यकों द्वारा शासित प्रजातंत्र होता तब शायद किसी क़ानून के तहत् महिलाओं, मुसलमानों, विकलांगों या ईसाई वर्गों के अल्पसंख्यकों के साथ भेदभाव की संभावना हो सकती थी। परन्तु *नाज़ फांउडेशन* द्वारा रेखांकित दलील यह है कि भारत भागीदारी की परम्परा पर आधारित संवैधानिक प्रजातंत्र है और यहां किसी भी रंग या झुकाव वाले व्यक्तियों के बुनियादी अधिकारों के साथ समझौता नहीं किया जा सकता।

नाज़ फांउडेशन ने दरअसल यह किया है कि डॉ. अम्बेडकर द्वारा प्रतिपादित संवैधानिक नैतिकता का मानक और पंडित नेहरू के भागीदारी के सिद्धांत को समलैंगिक व्यक्तियों तक विस्तारित कर दिया है। इस लिहाज़ से अदालत के निर्णय में सभी व्यक्तियों, फिर चाहे वे जनसंख्या का कितना ही छोटा हिस्सा क्यों न हों, के बुनियादी अधिकारों की पूरी सुरक्षा की संवैधानिक परिभाषा को और अधिक व्यापक बनाने का प्रयास किया गया है।

कौशल मामले में दिये गये फ़ैसले में अदालत इसी संवैधानिक दायित्व की समझ को नज़रअंदाज़ कर दिया गया है। 'संसद की मंशा' जो 'जनता की मंशा' का प्रतिनिधित्व करती है का सम्मान करने के दायित्व को बरकरार रखने के अपने वादे की दलील पेश करके इसमें न्यायपालिका को सभी अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों के जनमत से सुरक्षित करने की ज़िम्मेदारी से अलग कर दिया गया है। अदालत का यह निष्कर्ष कि देश की जनसंख्या का एक बहुत सूक्ष्म हिस्सा समलैंगिक, पारलिंगी, विषमलिंग या इतरलिंगी व्यक्तियों का है और इसलिये धारा 377 को रद्द करना गैरज़रूरी है, ने भारतीय संवैधानिकता के मायने ही बदल कर रख दिये हैं।

हालांकि क़ानून का मुख्य सरोकार तर्क से होता है परन्तु जज़बातों को पूरी तरह दरकिनार कर देना भी सही नहीं है। न्यायिक फ़ैसलों में मानवीय तकलीफ़ों के प्रति एक गहन समानुभूति झलकती है। *बंधुआ मुक्ति मोर्चा,* या फुटपाथ पर रहने वालों के हित में सुनाये गये फ़ैसले इस सच का प्रतीक हैं। हम यह कह सकते है कि इंसानी तकलीफ़ों के प्रति संवेदना प्रकट करके न्यायाधीश न्यायिक कार्यवाही को एक मानवतावादी रुख प्रदान करते हैं जो बहुत अहम होता है।

मानवतावाद का विचार हमारे संविधान का केंद्रिय लक्ष्य है जिसका उल्लेख नेहरु ने भारत की आज़ादी की पूर्वसंध्या को संविधान सभा के अपने वक्तत्व में भी किया था। गांधीजी की बात करते हुए नेहरु ने कहा था, "हमारी पीढ़ी के सबसे महान व्यक्ति की महत्वकांक्षा है कि वह हर आंख से आंसू का हरेक कतरा पोंछ सके। हम शायद ऐसा न कर पाएं। पर जब तक आंसू और पीड़ा रहेगी हमारा काम खत्म नहीं होगा।" यह स्पष्ट है कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों पर इस संवैधानिक ज़िम्मेदारी को पूरा करते हुए हर आंसू और हर तकलीफ़ को दूर करना होगा। पर *सुरेश कुमार कौशल मामले* में इस मानवीय तकलीफ़ से मुंह फेर लिया गया है और इस लिहाज़ से यह संवैधानिक मानवता की पराजय है।

क़ानून से आगे इस मामले की एक कमी यह भी है कि यह इस विचार को नकारता है कि क़ानून और प्यार एक ही समतल पर मिल सकते हैं। हालांकि *नाज़* ने कभी भी प्यार करने के अधिकार की बात नहीं की है परन्तु उन्होंने यह संभावना ज़रूर सामने रखी कि प्यार और क़ानून एक सतह पर मिल सकते हैं। *नाज़* फ़ैसले के आने तक समलैंगिकों के जीवन संबंधी प्रश्न का अर्थ यह समझा जा सकता था कि वे अपने शयनकक्ष के भीतर यौन संबंध बनाने के लिए आज़ाद हैं। *नाज़* ने इस बंद दरवाज़ों को खोलने का प्रयास करते हुए यह दावा किया कि लिंग और यौन झुकाव व्यक्तित्व में इस कदर बसे होते हैं कि व्यक्ति अपनी इस पहचान को अपने साथ हर जगह लेकर जाता है— यानी लिंग और यौन झुकाव व्यक्ति की अभिन्न पहचान का समग्र हिस्सा हैं। अदालत ने इस दावे को आगे ले जाते हुए कहा कि "राज्य का काम किसी व्यक्ति के साथी का चुनाव करना नहीं है बल्कि साथी खुद एक-दूसरे का चुनाव करते हैं।"

लिहाज़ा *नाज़* ने प्यार करने के अधिकार का विकास करते हुए यह सफलतापूर्ण दावा किया कि यौन झुकाव और लैंगिक पहचान के सवाल निजता से यौन क्रिया से संबंद्ध नहीं है, बल्कि ये पहचान और व्यक्तित्व से जुड़े प्रश्न है जिनमें अपनी पसंद के साथी के साथ अंतरंग रिश्ते बनाने की आज़ादी भी शामिल है। *सुरेश कुमार कौशल फ़ैसले* ने लैंगिक पहचान, यौन झुकाव की सीमा के पार प्यार करने के इसी अधिकार को खतरे में डाल दिया है। जाति, धर्म और यौनिकता की सीमारेखा से परे प्यार करने के अधिकार का समर्थन करने वाले पक्षों के लिए यह एक अफ़सोसजनक व दुखद हादसा है।

परन्तु इस फ़ैसले के विरोध में उठी सशक्त सार्वजनिक प्रतिक्रिया में एक आशा की किरण नज़र आती है। वकील, क़ानूनविद् अकादमिक, फ़िल्मकार, कलाकार, कार्यकर्ता यहां तक कि राजनेताओं ने इस फ़ैसले की कड़ी आलोचना की है। बदलाव की हवा का रुख इस बात से आंका जा सकता है कि मुख्यधारा की राजनैतिक कांग्रेस पार्टी भी समलैंगिकों को समर्थन देने के लिए बाध्य हो गई है। अंत में हम बस यही पूछना चाहते हैं —

"एक स्थगित ख्वाब का आख़िर क्या हश्र होता है ? क्या वह कड़ी धूप में एक किशमिश की तरह सूख जाता है या फिर ऊर्जा से फट पड़ता है।" *—लैंगस्टन ह्यूज*

क्या इस हार को जीत में बदलना संभव है?

अरविंद नारायण *आल्टर्नेटिव लॉ फ़ोरम के संस्थापक सदस्य व समलैंगिक मुद्दों के सक्रिय प्रवक्ता हैं।*